

## खेल की अवधारणा

आर. एफ. डियरडेन

### 1. परिचय

शिक्षाविद् अक्सर दावा करते हैं कि 'खेल गंभीर मामला है', हालांकि यों देखने से ठीक यही नहीं लगता है। क्या यह विरोधाभासी कथन जानबूझ कर खेल के मनोवैज्ञानिक या उसके तत्वमीमांसीय महत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने का तरीका तो नहीं ? बेशक, इस विषय पर अनेकों मनोवैज्ञानिक सिद्धांत व अवलोकन उपलब्ध हैं। जबकि अगर फ्रोबेल की तरह हम जर्मन आदर्शवादी दर्शन के चश्मों से देखें तो खेल का तत्वमीमांसीय महत्त्व भी देखा जा सकता है। अगर खेल का इतना अनपेक्षित महत्त्व भी देखा जा सकता है तो शायद उसका गंभीरता संबंधी दावा इसके विषय में उतना रोचक नवीन तत्व न लगे, जितनी यह नैतिक मांग कि वयस्क उस पर जिस हल्केपन से गौर करते हैं, उससे अधिक गंभीरता से देखें।

परन्तु इससे अधिक अचरज तब होता है, जब खेल से शिक्षा की बात की जाती है। अभिभावक, यहां तक कि बच्चे भी इससे दुविधा में उलझ जाते हैं। माता-पिता से बच्चे यह सीखकर स्कूल से रखी जाने वाली उम्मीदों को 'काम' की श्रेणी में रखते हैं। पांच साल की उम्र में स्कूल जाने पर जब वे पाते हैं कि उनसे उससे अधिक उम्मीद नहीं रखी जाती जिसे दूसरी जगह 'खेल' माना जाता है, तो उन्हें अक्सर आश्चर्य और कभी-कभार निराशा तक होती है। खेलना स्कूल के लिए उचित नहीं लगता, क्योंकि आखिरकार स्कूल तो वह स्थान है न जहां इसीलिए जाया जाता है ताकि हमें पढ़ाया जाए ? पर ऐसा भ्रम शैशवावस्था में या नर्सरी के चरण में नहीं जगता क्योंकि उस चरण में 'काम' की परंपरा रही ही नहीं है, जिसकी स्मृति प्रतिक्रियावादी असंतोष जगाए। जो लोग परंपरावादी हैं उनकी दृष्टि में यह

**बच्चों के जीवन में खेल के स्थान और महत्ता को लेकर आम सहमति है लेकिन यह विचारणीय विषय है कि खेल के मायने क्या हैं और शिक्षा के साथ खेल का क्या संबंध है ? इस लेख में खेल की अवधारणा और शिक्षा से इसके संबंध पर विचार किया गया है।**

पूरा चरण ही 'शैक्षिक रूप से' निकम्मा होता है। हालांकि शिशुशाला में खेल के औचित्य पर कोई विवाद नहीं करता, पर उसके मूल्य पर तो विवाद हो ही सकता है। सवाल उठाया जा सकता है कि खेल शैक्षणिक प्रक्रिया भला कैसे हो सकता है और शिशुशाला की शिक्षिकाओं के 'शिक्षक' होने के दावे को लेकर भी गंभीर विवाद उठाया जा सकता है।

अतः यह स्पष्ट है कि शिक्षा के संबंध में खेल की परिकल्पना करते ही कई उलझन वाले प्रश्न उठ खड़े होते हैं। उदाहरण के लिए, खेल को किस अर्थ में, अगर ऐसा कोई अर्थ होता भी है तो, 'गंभीर' कहना उचित होगा ? खेल संबंधी विभिन्न मनोवैज्ञानिक सिद्धांत खेल की हमारी साधारण अवधारणा से कैसे जुड़े हैं ? क्या शिशुशाला के बाद के चरणों में खेल का कोई ऐसा स्थान है भी जिसका रक्षण करते हुए हम यह दावा कर सकें ? और क्या खेल के निरीक्षण को हम 'शिक्षण' मान भी सकते हैं ? परन्तु तार्किक रूप से इन तमाम प्रश्नों के भी पहले आता है अवधारणा संबंधी यह प्रश्न : खेल आखिर है क्या ? अगर हम इस प्रश्न को लेकर कुछ अधिक स्पष्ट हों तो शायद ऊपर उठाए गए सवालों के जवाब भी अधिक स्पष्ट हो सकें। तो पहला काम यही होना चाहिए कि हम उन गतिविधियों को सीमांकित करें व विशेषताएं बताएं जो 'खेल' की कल्पना करते समय हमारे दिमाग में उभरती हैं।

प्रथम दृष्टि में यह पूछना सरल लग सकता है कि खेल क्या है, पर जो भी ऐसा सोचता है, उसे इसका प्रयास करना चाहिए। द कन्साइज ऑक्सफर्ड डिक्शनरी में इस क्रिया के चौबीस भिन्न अर्थ दर्ज हैं, साथ ही दुनिया भर में इसके तमाम मुहावरे-कहावतें भी विकसित हुए हैं। विस्तृत भाषा संबंधी जांच इन कहावतों के बीच विविध प्रकार की रोचक उपमाएं व संबंध भी दिखाएंगे। परन्तु इस प्रकार की जांच किसी दार्शनिक का काम नहीं है। उसे जो करना है वह यथासंभव उस केन्द्रीय अवधारणा को चुनने की चेष्टा है जिसके इर्दगिर्द ये विभिन्न बदलते अर्थ घूमते हैं। और अगर वह इस अवधारणा के उपयोग के ऐसे मानदण्ड निर्धारित कर सके जो कम से कम उसके उद्देश्य के निकट हों, तो उसे स्वयं को भाग्यशाली मानना चाहिए।

## 2. तथ्य व आदर्श

अगर खेल की अवधारणा को स्पष्टता के साथ सीमांकित करना है; तो हमें शैक्षिक लेखन में मौजूद उस रुझान से बचना

होगा जो इस अवधारणा को केवल उन गतिविधियों तक सीमित करता है, जो बाल विकास के किसी खास आदर्श के अनुरूप हों। इस अर्थ में ऐसे लेखन में 'खेल' में भी वही अस्पष्टता नजर आती है जो 'वृद्धि' को लेकर मिलती है। इससे यह हमेशा ही अस्पष्ट रह जाता है कि जिनका वर्णन किया जा रहा है वे बच्चे जैसे दरअसल वे हैं, वे ही हैं, या फिर जैसे-जैसे उन्हें होना चाहिए। हिटलर भी आखिर बड़ा हुआ ही था और खेल भी वैमनस्यपूर्ण और विध्वंसक हो सकता है। परन्तु जाहिर है कि जब खेल या वृद्धि के गुण गाए जाते हैं, तो न तानाशाही, ना ही दुर्भावना को संवर्धित करने को हमें प्रोत्साहित किया जाता है। बाल विकास के सिद्धांत में तथ्य और आदर्श के बीच जो अस्पष्टता है वह तब से मौजूद रही है जब रूसो ने इसे उस शब्द के साथ प्रतिपादित किया : यह शब्द है 'प्रकृति'। रूसो से लेकर आज तक बाल विकास के कई लेखकों ने स्वयं को उसका वर्णन करते माना है जिसे 'प्रकृति के अनुरूप शिक्षा' कहा जाता है या इसी के किसी भिन्न रूप, जैसे 'प्राकृतिक रूप से सीखना' कहा जाता है। परन्तु जब खेल को 'प्राकृतिक' कहा जाता है तो उसके कम से कम तीन अर्थ इसमें साथ-साथ समाहित होते हैं।

पहला अर्थ है स्वतःस्फूर्त होना : बालक खेल गतिविधियां स्वेच्छा और उत्साह से करता है, उसे ऐसा करने के लिए उकसाना नहीं पड़ता। इस स्वतःस्फूर्त गतिविधि को स्वभाविक रूप से अच्छा भी माना जाता है। कम से कम तब तक, जब तक बच्चा वयस्कों या उसके वातावरण द्वारा भ्रष्ट नहीं कर दिया जाता। दूसरा अर्थ जो रूसो को खासतौर से प्रिय था, वह है सामाजिक परिपटियों के विरुद्ध होना। यह विचार इस दृष्टिकोण से उपजता है कि सरल ग्रामीण जीवन मनुष्य के लिए श्रेष्ठतम है। बच्चों को अश्वसेना का गणवेश पहनाना और उन्हें पुतलों-सा सजाना इस अर्थ में 'स्वभाविक' से बहुत दूर है। 'प्राकृतिक' या 'स्वभाविक' का तीसरा अर्थ किसी वस्तु के 'सार' से है। यह धारणा प्रोबेल की खेल की दृष्टि में प्रधान है जहां यह उस तत्वमीमांसीय नियोजन का हिस्सा है जिसका उद्भव अंततः अरस्तु में मिलता है।<sup>1</sup> इसका निहितार्थ है वह विशुद्ध रूप-आकार जिसकी दिशा में कोई वस्तु विकसित होती है। इस दृष्टिकोण में सभी सजीव वस्तुओं, मय बच्चों में, एक बीज जैसा स्थित माना जाता है, जिसमें क्रमशः बढ़ने और श्रेष्ठ प्रस्फुटन की संभावना निहित हो। अतः प्रोबेल को एक किंडरगार्टन या 'बाल बगिया' की आवश्यकता है, जहां बालक

की मूल प्रकृति बिना अवरोध या विकृति के क्रमशः प्रकट हो सके। रूसो, बारह वर्ष की अवस्था में एमिल का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि वह (किसी अनाध्यात्मवादी को) अपरिष्कृत व असंस्कारित लड़का लग सकता है, जबकि दरअसल उसमें 'बाल्यावस्था की श्रेष्ठता' ही प्रकट हुई है।

इतिहास के मसले के रूप में, तथ्य तथा आदर्श को लेकर जो भ्रम रहा है उससे बच्चों को बेहद लाभ हुआ है। सुधारों के चलते, बच्चों के खेल को ताजी दृष्टि और शैक्षिक मनोविज्ञान की नजर से देखा गया। यह प्रक्रिया तब तक प्रारंभ हो ही नहीं सकती थी अगर वे शैक्षिक दृष्टि से क्या मूल्यावान है, इसकी पूर्व धारणा मौजूद न होती<sup>3</sup> और बालकों के खेल को ताजी दृष्टि और शैक्षिक मनोविज्ञान की नजर से जांचे जाने लगता। परन्तु खेल के बारे में चर्चा में हमें स्पष्टता लानी है तो हमें तथ्य और आदर्श में अर्थात् बच्चे जैसे वास्तव में होते हैं तथा जैसे हम उन्हें होते देखना चाहते हैं, में व्याप्त भ्रम को मिटाना होगा। सुधारकों द्वारा की गई शोध ने एक हद तक इस भ्रम को तोड़ा भी है। खासकर बाल गतिविधियों का जो अध्ययन मनोविश्लेषण की कम आशावादी धारणा से प्रारंभ किया गया था उसके कारण 'प्राकृतिक' शब्द का वह उपयोग आज

अधिक प्रचलित हो सका है जो इतना मूल्य निहित नहीं है। पर यह कहना कि 'खेल' इस अर्थ में 'प्राकृतिक' है, जिसमें निश्चित रूप से आएगा ही, 'खेल' के अर्थ को स्पष्ट नहीं करता। हालांकि इससे यह समझने में मदद अवश्य मिल सकती है कि वह क्या रूप-आकार लेगा। इसका नतीजा यह है कि 'खेल' को हम किसी ऐसी आदर्श गतिविधि के समकक्ष नहीं मान सकते, जिसका 'प्राकृतिक' कहकर अस्पष्ट वर्णन किया गया हो। अपरिष्कृत, झगड़ालू, विनाशकारी, अरचनात्मक और भौंडा खेल भी आखिर 'खेल' ही तो है। खेल की अवधारणा के सटीक विश्लेषण को ऐसे मामलों को भी उतनी ही सहजता से शामिल करना होगा, जितनी आसानी से उन खेलों को किया जाता है जो हमारे मुख पर अनुमोदन की मुस्कान लाते हैं।

### 3. बालकों की गतिविधियां

उपयोगी अगला चरण होगा बच्चों के खेल के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना और कुछ ऐसी गतिविधियों के उदाहरण भी जोड़ना, जो हमें यह याद दिलाएं कि 'बच्चे की रुचि' केवल 'खेल में' नहीं है, जैसा कैल्डवैल कुक ने एक समय दावा किया था।<sup>4</sup> बच्चों के खेल के प्रथम दृष्टांत के रूप में हम वे

'काल्पनिक' खेल ले सकते हैं जिसमें वे वयस्कों व अन्य लोगों की भूमिका अपनाकर उनको अभिनीत करते हैं। यों बच्चे स्कूल-स्कूल, माता-पिता, नर्स-रोगी आदि का खेल खेलते हैं। इसे हम किसी न किसी के 'रूप को धरके खेलना' कह सकते हैं। दूसरी तरह के खेल को किसी वस्तु से खेलना कहा जा सकता है। इसमें किसी व्यक्ति की भूमिका अदा करने के बदले वे किसी चीज को संचालित करते हैं। वे बालू, पानी, मिट्टी, ईंटों, सैनिकों, जिगसाँ पहेली या निर्माण किट आदि से खेलते हैं। भूमिका अभिनय की तरह वस्तुओं से खेलने के दौरान भी प्रतिनिधित्व उतना ही ढीला-ढाला या सटीक हो सकता है जितना बच्चा चाहे। वह उम्दा नकलची हो सकता है या मान्यता के साथ अनगढ़ से तादात्म्य से आगे नहीं भी बढ़ सकता है। वह मिट्टी से हूबहू नजर आने वाली आकृति गढ़ने के लिए मेहनत कर सकता है या किसी अनगढ़ लौंदे को ही कोई आकार मान संतुष्ट हो सकता है। तीसरे प्रकार का खेल प्रधानतः शारीरिक होता है। जैसे रस्सी कूदना, चढ़ना, पीछा करना, गेंद से खेले जाने वाले खेल खेलना, स्केटिंग करना या स्कूटिंग (पहिणदार तख्ते की खड़ी सवारी करना)। ये खेल मनमर्जी से बनाए हो सकते हैं या फिर नियमों द्वारा निर्देशित भी। प्याजे ने कंचों के खेल और प्राथमिक शाला की कक्षाओं से गुजरने के दौरान खेल के नियमों के प्रति बच्चों के बदलते दृष्टिकोण की जो शास्त्रीय चर्चा की है, वह इसका दृष्टांत है।<sup>5</sup> तो ये तीन प्रकार के खेल- भूमिका अभिनय, वस्तु के साथ खेलना और शारीरिक खेल, हमें पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध करवाते हैं, जिनके सहारे हम जो बाद में सुझाए गए खेल के किसी भी मानदण्ड को जांच सकते हैं।

परन्तु शाला पूर्व आयु के बच्चे भी खेल के अलावा अन्य गतिविधियां करते हैं। बच्चे क्रमशः 'काम' करना चाहते हैं। इनमें वास्तविक कामों में वयस्कों की मदद करना, जैसे बर्तन/कपड़े धोना, झाड़ना, खरीददारी करना, सफाई करना भी होते हैं। स्कूल जाना भी अंशतः 'काम' ही माना जाता है। परन्तु खेल और काम ही वे दो श्रेणियां नहीं है जैसा हड़बड़ी में मान लिया जाता है, जिनमें बच्चों के समस्त क्रियाकलापों को बांटा जा सके। रोजमर्रा के साधारण क्रियाकलाप जैसे नहाना, खाना, कपड़े पहनना और सोने की तैयारी करना, न तो काम की श्रेणी में आते हैं ना ही खेल की। इसी प्रकार वयस्कों की सामाजिक गतिविधियों में जुड़ना, जैसे किसी से मिलने जाना, बातचीत करना या 'बाहर जाना' भी इन दो श्रेणियों में नहीं

रखे जा सकते। इनमें जो भी अंतर हो, इतना तो साफ ही है कि खेल तथा अन्य प्रकार की गतिविधियों में अंतर अवश्य है। इस अंतर को 'काम' मान लेने से बचने के लिए तथा खेल और काम की भ्रामक विपरीतता से बचने के लिए हम फिलहाल इन दो श्रेणियों को खेल तथा अ-खेल कहेंगे। कम से कम यह अंतर सुरक्षित लगता है।

#### 4. खेल के कुछ सुझाए गए मानदण्ड

खेल की अवधारणा में निहित मानदण्डों को चुनते समय पूर्ववर्ती दृष्टान्तों की कमी नहीं पड़ती। परन्तु अब तक दिए गए सभी सुझावों की समीक्षा में बहुत समय लगेगा। अतः केवल कुछ प्रतिनिधित्व करने वाले दृष्टान्त जिनकी सर्वाधिक पैरवी की गई है, उन्हीं पर यहां विचार किया जाएगा। इन सुझावों में अक्सर यह लालच उठ सकता है कि किसी खास किस्म के खेल पर बल दिया जाए या 'बालकों की' एक आदर्श छवि से निर्देशित होकर केवल उन्हीं खेलों पर गौर किया जाए जो उस छवि के अनुरूप हों। परन्तु प्रस्तावित मानदण्ड के विषय में दो प्रश्न हमेशा पूछे जाने चाहिए। अब तो यह, कि क्या कुछ दूसरे प्रकार के खेल भी हैं जिसमें यह लक्षण स्पष्टतः मौजूद हों ? अगर ऐसे खेल हैं, तो जाहिर है कि यह खेल की

अवधारणा को लागू करने की आवश्यक शर्त नहीं है। इस त्रुटि का एक उदाहरण यह सुझाना होगा कि 'खेल' का निहितार्थ है एक प्रकार की कल्पना करना। जाहिर है कि जब गेंद से जुड़े खेल खेले जाते हैं उस वक्त कल्पना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। दूसरे, क्या अ-खेल के ऐसे कोई उदाहरण हैं जिसमें सुझाया गया लक्षण मौजूद हो ? अगर ऐसे उदाहरण हैं तो यह अवधारणा को सीमांकित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसका उदाहरण यह सुझाव हो सकता है कि 'खेल' का मतलब है दृश्य रूप से सक्रिय होना। परन्तु खाना पकाना या खरीददारी करना भी दिखाई देने वाली गतिविधियां हैं, पर वे खेलना नहीं हैं।

अब अगर हम उन वास्तविक सुझावों की ओर मुड़ें, जो प्रस्तुत किए गए हैं, तो हम एक झटके में तमाम ऐसे सुझावों को खारिज कर सकते हैं जिनमें वह सब देखा जाता है जिसे बच्चे खेल में शामिल करते हैं। उदाहरण के लिए, यह सोचना बेमानी होगा कि उसमें खिलौनों का उपयोग किया गया था या नहीं। क्योंकि 'खिलौने' की अवधारणा को उस वस्तु की इंद्रियगम्य विशेषताओं द्वारा समझाया नहीं जा सकता। वह तो आंतरिक

रूप से ही 'खेल' की अवधारणा से संबंधित है। अर्थात् उसकी अवधारणा खेल के उपयोग में आने वाली वस्तु की है, चाहे वह उपयोग विशेष या अस्थायी ही क्यों न हो' एक हथौडा किसी पल पिता का उपकरण हो सकता है पर अगले ही पल वह उसके पुत्र का 'खिलौना' भी बन सकता है। इसी तरह अगर हम उन सब भूमिकाओं को एक साथ रख दें, जो बच्चे खेल में अदा करते हैं जैसे, माता और पिता बनना, चाय-पार्टियां, स्कूल आदि-इत्यादि और तब हम अगर आचरण की उन विशेषताओं पर गौर करने की कोशिश करें जो उन्हें उन 'वास्तविक' गतिविधियों से अलग करते हों, तो वे हमें नहीं मिलेंगे। इसलिए क्योंकि यह प्रश्न कि यह अभिनय है या नहीं, दरअसल बालक की मंशा से संबंधित प्रश्न है। वह स्वयं को क्या करते देखता है, यह नहीं कि गतिविधि ने क्या स्वरूप लिया है।

अधिक औचित्यपूर्ण वे सुझाव लगते हैं जो खेल के विभिन्न 'मनोवैज्ञानिक' मानदंड प्रस्तुत करते हैं। इनमें से सर्वाधिक पैरवी 'स्वतःस्फूर्तता' की हुई है। आवश्यक अर्थ में 'स्वतःस्फूर्त' गतिविधि वह प्रतीत होती है जिसका उद्भव तथा स्वरूप बालक के अनमांगे आवेग में हो। ऐसी गतिविधि बच्चों में से बुलबुलों के रूप में निकलती है जिसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। परन्तु यह मानदंड पर्याप्त नहीं हो सकता क्योंकि अ-खेल गतिविधियों के प्रति भी ठीक ऐसा ही स्वतःस्फूर्त आकर्षण हो सकता है। अक्सर माता-पिता को किसी काम, जैसे रंगाई-पुताई या खरपतवार उखाड़ना, को कर डालने के स्वतःस्फूर्त उत्साह पर लगाम लगानी पड़ती है, क्योंकि इसमें काम बिगड़ने या दुर्घटना का अंदेशा रहता है। जबकि कई अन्य कामों में वे मदद के प्रस्ताव का स्वागत करते हैं। इधर स्वतःस्फूर्तता आवश्यक शर्त भी नहीं है क्योंकि कई बार खेल का उद्भव अन्य बच्चों के सुझाव से होता है, जबकि कुछ मामलों में ऊबे हुए बच्चे वयस्कों से कहते हैं कि वे ही करने को कुछ सुझाएं। इसके अलावा खेल का 'स्वरूप' स्वतःस्फूर्त रूप से निर्धारित न होकर अक्सर कायदे-कानूनों द्वारा तय होता है, जैसा हम देख चुके हैं। अतः स्वतःस्फूर्तता बेशक उस वस्तु की ओर संकेत करती है जो अक्सर खेल में मौजूद होती है, परन्तु अवधारणा के प्रयोग के मानदण्ड के रूप में यह असफल ही रहती है।

खेल की विशेषता बताने का एक और आम 'मनोवैज्ञानिक' तरीका है उसे 'तल्लीन रुचि' के रूप में देखना। जैसा कैल्डवेल कुक ने एक बार बलपूर्वक कहा था: 'किसी भी चीज को रुचि

से करना, उसके मर्म तक पहुंचना और वहां सक्रियता से रहना यही खेल है'।<sup>6</sup> यह सच भी है कि बच्चे अक्सर अपने खेल में ऐसी सघन केन्द्रितता और तल्लीनता दर्शाते हैं, जिसमें उन्हें अवरोध या हस्तक्षेप नागवार गुजरता है। ऐसी तल्लीन रुचि परन्तु अ-खेल में भी उतनी ही आसानी से नजर आ सकती है। जैसे पत्र लेखन के समय या किसी तरह का स्कूली काम करते समय। तो फिर यह मानदण्ड भी पर्याप्त नहीं हो सकता। इधर सारे खेल इस तरह के होते भी नहीं हैं, अतः यह भी आवश्यक लक्षण नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, क्रिकेट का खेल काफी उबाऊ हो सकता है और बच्चे अक्सर किसी चीज से इसलिए भी खेलते हैं, क्योंकि उनके पास कुछ बेहतर करने को नहीं होता है। साथ ही कुछ प्रकार के खेलों का आकर्षण तल्लीन रुचि के कारण न होकर, उनमें निहित भय या उत्तेजना की भावना के कारण होता है।

‘भावनात्मक संतोष’ एक अन्य आम सुझाव है। प्याजे<sup>7</sup> इसी क्षेत्र में उस वक्त हैं जब वे खेल को ‘आत्मसातीकरण’ में शामिल करते हैं। इससे उनका तात्पर्य ऐसी गतिविधि से है जो व्यक्तिगत संतुष्टि की ओर अभिमुख हो न कि ‘समझौता’ या सामंजस्य की ओर। हालांकि ऐसी संतुष्टि अक्सर कई तरह के खेलों से मिल सकती है, वह तमाम अन्य कामों से भी प्राप्त हो सकती है। अतः यह भी पर्याप्त नहीं है। इसके अलावा कई बौद्धिक खेल भी होते हैं जैसे शब्द या बोर्ड खेल, जिनमें किसी जाहिर भावना के बदले दिमागी कसरत अधिक होती है। सो भावनात्मक संतुष्टि भी आवश्यक शर्त नहीं लगता। परन्तु इस सुझाव पर हम कुछ देर में लौटेंगे।

हम अब ठीक उसी प्रकार के गतिरोध तक पहुंच गए लगते हैं जैसे गतिरोध तक विट्गैनस्टाइन तब पहुंचे थे जब वे यह जांच रहे थे कि सभी खेलों में साझा क्या है : बोर्ड गेम्स, पत्तों के खेल, गेंद से खेले जाने वाले खेल, ओलम्पिक खेल, अकेले खेले जाने वाले जैसे खेल, रिंग-ए-रिंग ऑव रोजेस तथा स्वतःस्फूर्त बनाए गए खेल जैसे किसी दीवार पर गेंद मारना। यह साझी बात न तो मनोरंजन या स्पर्धा या कौशल या भाग्य ही लगती है।

इनमें साझा क्या है ?- यह न कहें: ‘इनमें कुछ तो समान होना ही चाहिए, अन्यथा उन्हें ‘खेल’ (गेम्स) क्यों कहा जाता’ - बल्कि ध्यान दें और देखें कि उनमें कोई समानता है या नहीं- क्योंकि देखने पर आपको इन सब में कुछ साझा नजर नहीं

बच्चों को खेलना ठीक उस तरह सिखाना नहीं पड़ता जिस तरह उन्हें खुद को स्वच्छ रहना सिखाना पड़ता है। जिन गतिविधियों को हम ‘खेल’ कहते हैं उसकी उत्प्रेरणा उनमें पहले से ही होती है और इस अर्थ में प्राकृतिक होती है। परन्तु बच्चों को जो सिखाना पड़ता है वह यह है कि उनकी विभिन्न गतिविधियों में कौन-सी ‘खेल’ गिनी जाएंगी और कौन-सी नहीं और यह उन्हें ऐसे वयस्कों द्वारा सिखाया जाता है जो अपनी गतिविधियों में ठीक यही भेद करते हैं।

आएगा, सिवा साम्यों, संबंधों के और उनकी पूरी कतार के। फिर दोहराता हूं : सोचें नहीं, बल्कि देखें।<sup>8</sup>

इस स्थिति का वर्णन, जिसमें कई परस्पर आच्छादित समानताएं हैं, परन्तु एक भी ऐसी नहीं जो सब में मिले। विट्गैनस्टाइन ने एक जुमला गढ़ा ‘पारिवारिक साम्य’। अतः हम कह सकते हैं कि जिन विविध गतिविधियों को हम ‘खेल’ कहते हैं वे पारिवारिक साम्य का एक संजाल (नेटवर्क) दर्शाते जरूर हैं, पर वे कोई समग्र विशेषताएं या समानताएं नहीं दर्शाते। इस समाधान को स्वीकारने का लालच तब और बढ़ जाता है जब हम यह याद करते हैं कि केवल बच्चे ही नहीं बल्कि वयस्कों को भी वास्तव में ‘खेलते’ कहा जा सकता है। जाहिर है कि वयस्कों के खेल बच्चों के खेलों की तुलना में अधिक औपचारिक व संरचनाबद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए, पहल-दूज और शतरंज (चैस) में क्या समानता हो सकती है या बॉउल खेल और मम्मी-पापा खेलने में ? फिर भी हम इन सभी को ‘खेल’ कहते हैं। विट्गैनस्टाइन कहते हैं : ‘सोचो नहीं, बल्कि देखो।’ पर खेल गतिविधियों को देखने का काम ही तो हम करते रहे हैं, हालांकि खास सफलता हासिल किए बिना। सो अब यह संदेह बेशक सिर उठाता है कि ‘खेल’ को किसी

ऐसी विशेषता के आधार पर सीमांकित नहीं किया जा सकता जो हमेशा खेल गतिविधियों में मौजूद हो। चाहे वह विशेषता ऐसी हो जो तत्काल देखने पर नजर आती हो या फिर उसके अनुभव में निहित कोई महसूस किए जाने वाला गुण हो। तो हमें इन सामान्य दिशाओं से किसी भिन्न दिशा में बढ़ना पड़ेगा।

## 5. खेल तथा सामाजिक जीवन

शुरुआत हम यह गौर करने के साथ कर सकते हैं कि बच्चों को खेलना ठीक उस तरह सिखाना नहीं पड़ता जिस तरह उन्हें खुद को स्वच्छ रहना सिखाना पड़ता है। जिन गतिविधियों को हम 'खेल' कहते हैं उसकी उत्प्रेरणा उनमें पहले से ही होती है और इस अर्थ में प्राकृतिक होती है। परन्तु बच्चों को जो सिखाना पड़ता है वह यह है कि उनकी विभिन्न गतिविधियों में कौन-सी 'खेल' गिनी जाएगी और कौन-सी नहीं और यह उन्हें ऐसे वयस्कों द्वारा सिखाया जाता है जो अपनी गतिविधियों में ठीक यही भेद करते हैं। उदाहरण के लिए, पानी के साथ खेलने, स्वांग करने या पीछा करने के लिए प्रोत्साहन की स्वाल्प या कतई आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु ऐसी गतिविधियों को 'खेल' के ढप्पे के नीचे रख उन्हें अन्य प्रकार की गतिविधियों से भिन्न मानना, इस बात की अभिव्यक्ति है कि तमाम गतिविधियों में से कुछ को वयस्क सामाजिक जीवन का एक प्रकार मानते हैं। तो फिर बेहतर यह होगा कि हम खेल को न देख, जैसा हम अब तक करते रहे हैं, सामाजिक जीवन के संबंध में खेल के विषय में सोचें। इसी ओर मैं अब बढ़ना चाह रहा हूँ और इसे एक सकारात्मक सुझाव के रूप में विकसित करना चाहता हूँ।

अगर हम वयस्क जीवन की उन गतिविधियों पर विचार करें जो उसका अधिकांश हिस्सा हैं, अर्थात् वयस्क जो ठेठ गतिविधियाँ करते हैं, तो उनको विशेषित करने वाला एक ही सटीक शब्द उभरता है वह है 'गंभीर'। ये गतिविधियाँ इस अर्थ में गंभीर हैं कि उन्हें किसी ऐसे उद्देश्य के लिए किया जाता है, जिनको न करना उपेक्षा करना कहलाएगा। ऐसे उद्देश्य सामान्य सूझबूझ से निर्देशित होते हैं क्योंकि वे हमारे हित में हैं। या फिर कर्तव्यों या दायित्वों से निर्धारित होते हैं, जो शायद कानून, नैतिकता, धर्म या जो कुछ किसी विशेष सामाजिक भूमिका के लिए रीति अनुसार उचित माना जाता है। इस अर्थ

में यह कहना कि वयस्कों की ठेठ गतिविधियाँ गंभीर होती हैं, का उनकी हंसी-मजाक या गंभीरता या लोगों के चेहरे के हाव-भाव से कोई रिश्ता नहीं है। बल्कि यह कुछ गतिविधियाँ का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन भर है। कुछ खास लोग उन्हें गंभीरता से लेते हैं या नहीं लेते, होती वे गंभीर ही हैं और जो व्यक्ति उन्हें ऐसा नहीं मानता वह या तो अपने या फिर दूसरों के हितों की अवहेलना करता है। वह जीवन जीने के साधारण काम की उपेक्षा करेगा, जिस पर जिम्मेदारीपूर्वक ध्यान देना स्वयं उस व्यक्ति तथा समूचे समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। कई मामलों में जो इंसान इनको महत्त्व नहीं देता, उसके लिए कहा भी जाता है कि वह अमुक के साथ 'खेल' कर रहा था। हम किसी व्यक्ति पर 'राजनीति का खेल' करने का आरोप लगाते हैं या कोई स्त्री किसी पुरुष की चेष्टाओं पर इसलिए ध्यान नहीं देती क्योंकि वह 'सिर्फ खेल' कर रहा था या जिसे अपने काम पर ध्यान देना चाहिए उसके लिए कहते हैं कि वह 'खिलवाड़' कर रहा है। बालक का सामाजिकरण मूलतः यह सीखने का होता है कि वह उन गंभीर सोद्देश्य गतिविधियों को पहचानना, उनका सम्मान करना और क्रमशः उनसे जुड़ना सीखे जो साधारण जीवन को बनाती हैं।

बेशक, यह कहना कि गतिविधि की गंभीरता का आंकलन एक वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन है, का मतलब यह नहीं कि इसकी पुनर्समीक्षा असंभव है और जिस व्यक्ति ने सामान्य नजरिए की उपेक्षा की हो वह झक मारने वाला न हो, बल्कि आम मान्यता से वास्तव में असहमति रखने वाला हो। जीवन के किसी स्वरूप में क्या गंभीर है की धारणा के पीछे हमारी स्वयं के विषय में तथा हमारी परिस्थिति की एक समझ होती है। अर्थात् वास्तविकता की प्रकृति की एक छवि हाती है, जो दरअसल कुछ अर्थों में गलत भी हो सकती है : उदाहरण के लिए अगर हम यह सोचते हैं कि सुरक्षित समुद्र यात्रा के पहले हमें समुद्र को प्रसन्न करना चाहिए या वर्षा हो इसके लिए सामूहिक नृत्य आवश्यक है। हालांकि ऐसी गतिविधियों को गंभीर माना जाता है, फिर भी वे लोगों और उनकी स्थिति के संबंध में एक मूल धारणा पर ही आधारित होती हैं। अर्थात् गंभीर क्या है संबंधी हमारी धारणा के पीछे वास्तविकता की हमारी छवि होती है। यही वह पृष्ठभूमि बनाती है जिसके समक्ष हम अपने उद्देश्यों का पीछा करते हैं। हालांकि किसी समाज में विशेष में इस पृष्ठभूमि को इतना पारंपरिक माना जाता है कि उस पर विशेष टीका-टिप्पणी भी नहीं की जाती।

तो अब खेल के बारे में पहली बात जो हम कह सकते हैं वह यह है कि खेलने वाला अपनी गतिविधि को इस वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन के अर्थ में गंभीर नहीं मानता। खेल सामाजिक सूझबूझ द्वारा निर्धारित उद्देश्यों को पाने की चेष्टा नहीं है, ना ही वह किसी के प्रति अपने दायित्व को पूरा करना है। अतः हम खेलने की उपेक्षा तो बिरले ही करते हैं, परन्तु गंभीर गतिविधि की मांगों से मुक्त होने के कारण, हम इसमें जो चाहे कर सकते हैं। सिंक के पास खड़ा बच्चा खेल सकता है तो नहीं भी खेल रहा हो सकता है। यह पूरी तरह इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपनी गतिविधि को क्या मान रहा है। अगर वह अपनी इच्छा से जो मन में सूझा वह करता है, तो वह खेल रहा होता है पर अगर वह इसे एक काम के रूप में करता है तो चम्मच पर लगा अण्डा न हटाना या सफाई को अधूरा छोड़ना उस काम के मानकों की उपेक्षा होगी, तब वह खेल नहीं रहा होता। ठीक यही बात वयस्कों के लिए भी सच है, सिवा इसके कि बर्तन धोना उसके लिए एक दायित्व है। अतः उसे गंभीरता से न लेना दोष के अर्थ में उससे 'खिलवाड़' करना कहलाएगा। हम गंभीरता से भी आगे निकल सकते हैं, जैसे स्वांग करते समय और स्वयं को उससे मुक्त कर सकते हैं जिसे हम अपनी वास्तविक स्थिति के रूप में जानते हैं। यह सच है कि स्वांग करते समय भी वास्तविक तथा गंभीर को पूरी तरह भुलाया नहीं जाता,<sup>9</sup> क्योंकि यह तो एक तरह का पागलपन ही होगा, परन्तु उन्हें कुछ समय के लिए कोष्ठक में रख, सायास स्थगित किया जाता है। एक शिशु जिसने अपनी वास्तविक स्थिति को देखना न सीखा हो, उसे सही मायने में खेलता कहा नहीं जा सकता, ना ही किसी पूर्णतः बोध अक्षम (ऑटिस्टिक) बच्चे को ही खेलता कहा जा सकता है, जिसे उस पृष्ठभूमि की वास्तविकता का भान ही न हो जिसके समक्ष उसकी गतिविधियां हो रही हों।<sup>10</sup> खेल की तुलना होनी होती है और वह गंभीर तथा वास्तविक की धारणा पहले मानकर चलता है, अतः बालक को सही अर्थों में केवल उस हद तक खेलता कहा जा सकता है, जिस अनुपात में वह इनके विषय में सजग हो।

तो खेल क्या गंभीर हो ही नहीं सकता ? क्या यह कहना असत्य है कि 'खेल गंभीर मामला है' ? फिलहाल हम निम्नोक्त से ही संतोष कर लेते हैं। कोई लड़का अपनी खिलौना रेलगाड़ी के संचालन को या कोई पुरुष अपने गॉल्फ के खेल को बेहद संजीदी से ले सकता है। दोनों ही सही क्रम में सही चरणों के

करने को महत्त्व दे सकते हैं, पूरी ईमानदारी से ध्यान दे सकते हैं, अगर काम सही तरह न किया जाए तो नाराज भी हो सकते हैं, आदि-इत्यादि। उदाहरण के लिए, शतरंज के खेल पर विचार करें तो यह कहने की सच्चाई तत्काल स्पष्ट हो जाती है कि खेल गंभीर हो सकता है। पर जिस बिन्दु पर गौर करना चाहिए वह यह है कि 'गंभीरता से लेना' स्वयं भी खेल का ही हिस्सा है, जबकि समग्र रूप में वह खेल, जिस पर अंदर से नहीं बल्कि सामान्य जीवन से उसके संबंध पर विचार किया जा रहा है, अपने-आप में गंभीर्य-हीन होता है। खेल में दर्शाई गई गंभीरता किसी सूझबूझ या दायित्व से निर्धारित नहीं होती। हम अपनी खिलौना रेलगाड़ियों या गॉल्फ को गंभीरता से लेकर अपनी जिम्मेदारियों को स्वीकारते हैं। खेल में हमारा दृष्टिकोण कितना भी गंभीर क्यों न हो, वस्तुपरक रूप से वह गतिविधि उस अर्थ में गंभीरताहीन ही होती है, जिस अर्थ का वर्णन मैंने किया है। हम स्वयं को खेल के हिस्से के रूप में गंभीरता के वश में कर जरूर लेते हैं, पर हम उसे तोड़ने, बिना अपने हितों या दायित्वों की उपेक्षा किए, को स्वतंत्र होते हैं। अगर ऐसा होना बंद हो जाता है और हमें स्वांग की गंभीरता को वस्तुनिष्ठ गंभीरता मानने का भ्रम होने लगता है, तो हमें याद दिलाना पड़ता है या हमारी गतिविधि की वास्तविक प्रकृति का आश्वासन देना पड़ता है। हमें कई बार बच्चों से कहना पड़ता है "यह सिर्फ खेल ही है, पता है ना।" या हमें किसी वयस्क को कहना है "सिर्फ खेल (गेम) ही है।" यहां 'सिर्फ' पर दिया गया बल इसे वस्तुनिष्ठ रूप से गंभीर से अलग करता है। कुछ भिन्न अर्थ में जब हम सुनते हैं कि ड्रेक ने आरमाडा (नौ-सैनिक बेड़े) के आगमन के बावजूद बाउलों का खेल जारी रखा, तो हम अर्चभित हो जाते हैं और समझ नहीं पाते कि सोचा क्या जाए।

खेल की अ-गंभीरता एक और तरीके से भी दर्शाई जा सकती है। वह इस तथ्य से कि एक से दूसरा समाज जिसे गंभीर मानता है, वह समान नहीं होता। यह सच है कि अगर हम किसी अन्य संस्कृति में पहुंचें जो हमारी से काफी भिन्न हो, तो भी हम कुछ खेल गतिविधियों को भरोसेमंद तरीके से पहचान सकें। आंशिक रूप से इसलिए कि वे इतनी सुस्पष्ट हैं, तो अंशतः इसलिए भी कि उनके गंभीर होने की कल्पना की ही नहीं जा सकती। परन्तु कई खेल गतिविधियां समाज की गंभीर गतिविधियों का प्रतिनिधित्व भी करती हैं, जबकि कुछ अन्य की विषयवस्तु बालकों की गतिविधि की एक खास परंपरा से

निकली हुई होती है।<sup>11</sup> इनको भरोसेमंद तरीके से तब तक पहचाना नहीं जा सकता, जब तक हम यह न जानते हों कि उस समाज में किसे गंभीर माना जाता है। जो हमें उंगलियों का खेल लगे या खेलमय नृत्य वह कोई धार्मिक कर्मकाण्ड, अतः गंभीर, हो सकता है। जबकि वह गतिविधि जो किसी उपकरण का सोदेश्य उपयोग लगे वह खिलौने से खेल हो सकती है। संस्कृति-सापेक्ष ऐसी खेल गतिविधियों की भरोसेमंद पहचान तब तक नहीं की जा सकती जब तक हमें यह पता न हो कि सामाजिक जीवन के कौन-से स्वरूप गंभीर माने जाते हैं।

गौर करें कि छोटे पशुओं की कई गतिविधियों को अक्सर 'खेल' कहा जाता है। यहां एक बार फिर गंभीर तथा अ-गंभीर में अंतर निहित होता है। पशुओं के गंभीर कामों में शिकार करना, खाना, स्वयं की साफ-सफाई (ग्रूमिंग), हमले से बचना, अपने इलाके की रक्षा करना आदि शामिल हैं। जबकि छोटे पशु इन गंभीर गतिविधियों से मुक्त होते हैं। बेशक यहां मानवीय सामाजिक जीवन से तुलना भी की जा रही होती है, परन्तु खेल की जिस विशेषता की बात मैं करता रहा हूं, वह स्पष्टतः पशुओं के अधिक सरल जीवन में भी मौजूद है।

एक अन्य अवधारणा जो कुछ अर्थों में 'खेल' के समान है, वह है 'सपना' देखने की अवधारणा, हालांकि सपने देखना दरअसल कोई गतिविधि नहीं है। तो फिर स्वप्न है क्या ? हम तत्काल कुछ विशेष स्वप्नों को याद कर उनकी साझी विशेषताओं को पहचानने की चेष्टा करते हैं, ठीक उसी तरह जैसे हम सभी खेलों में कुछ साझा तलाशते हैं। परन्तु जिस प्रकार ऐसा कुछ नहीं मिलता जिसका खेल न खेला जा सके, इसी प्रकार ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका सपना हम देख न सकें।<sup>12</sup> 'गंभीर' या 'वास्तविक' के साथ साम्य, इन दोनों ही मामलों में उतना ही सटीक माना जा सकता है जितना हम चाहें, अतः 'खेल' या 'स्वप्न' की विषयवस्तु हमें उन्हें सीमांकित करने का मानदण्ड उपलब्ध नहीं करवा सकती। संभव है कि तब हम 'मनोवैज्ञानिक लक्षणों' की ओर मुड़ें, और गौर करें कि 'खेल' की तरह ही, स्वप्नों में भी ऐसी समानताएं अक्सर मिलती हैं जो उनके महसूस किए जाने वाली विशेषताओं की होती हैं। ऐसी विशेषताएं जो स्वप्न देखने वाले को इस असंगत फैसले तक ले जाती हैं कि 'यह तो सपना है'। परन्तु अंततः व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि, खेल की तरह, स्वप्न का सीमांकन भी नकारात्मक ही हो सकता है। शायद कुछ इस

प्रकार कि सपने ऐसे अनुभव हैं जो हमें तब होते हैं जब हम जगे हुए न हों। ठीक उसी प्रकार जैसे खेल ऐसी गतिविधि है जिसे हम तब करते हैं जब हम गंभीरता की मांगों से मुक्त होते हैं। इन अर्थों में सपने देखने की तरह खेल को भी एक दूसरी ही दुनिया बनाते कहा जा सकता है।

अब खेल की एक अन्य विशेषता भी उजागर होती है, जो उसकी अ-गंभीरता के निहितार्थ स्वरूप उभरती है, वह यह कि उसे स्व-सीमित होना होता है। गंभीर से जुड़ी साधन-साध्य संबंध की कोई रुकावट खेल पर नहीं लगाई जा सकती, क्योंकि ऐसा करते ही वह कुछ उपयोगी बन जाता है। या उसे स्वयं उस गतिविधि के परे किसी उद्देश्य की ओर भी नहीं बढ़ाया जा सकता। स्वांग तो और भी जाहिर तौर पर कटा होता है। खेल के नियम व ढांचे, चाहे वे कितने ही विस्तृत क्यों न हों, गंभीर से कटे हुए होते हैं और कानूनी व्यवस्था या हमारे नैतिक दायित्व का हिस्सा कतई नहीं होते। वे भवन या मनोरंजन मैदानों के नियमों से भिन्न होते हैं, जिनमें खेल खेला जा सकता है या जहां किसी को चोट न पहुंचाने के नैतिक नियम की अनुपालना खेलते समय करनी पड़ती है। इन नियमों का एक ही मकसद होता है और वह है उस खेल को बनाना।<sup>13</sup> खेल की यह स्व-सीमित होने की विशेषता की प्रतिपुष्टि, हुईजिंगा के साथ यह गौर करने से होती है कि ठेठ रूप में खेल के विशेष स्थान, समय तथा वस्तुएं होती हैं। उसकी नर्सरियां (शिशु शालाएं), खेल स्थान तथा खेल मैदान होते हैं। उसके सुनिश्चित प्रारंभ व समाप्ति वाले खेल घंटे होते हैं, तथा उसके खिलौने व अन्य उपकरण होते हैं। खेल उद्देश्यों के उस जाल के परे होता है जो गंभीर को निर्मित करती हैं, अतः इस अर्थ में वह स्व-सीमित होता है। तो अगर खेल गंभीर से इस प्रकार कटा हुआ है<sup>14</sup> कि उसका प्राथमिक कार्य लोगों के हितों को बढ़ावा देना है ही नहीं, तो फिर खेलने का हमारा कारण भला क्या हो सकता है? लोग अक्सर काफी परेशानी और खर्च उठाकर खुद को या दूसरों को खेलने का मौका उपलब्ध करवाते हैं, तो इसका कारण भला क्या हो सकता है ? खेल की अ-गंभीरता और उसके स्व-सीमित होने की विशेषता को रेखांकित कर उसे कुछ ऐसा दर्शाया जाता है मानो वह नकारात्मक हो, जोकि इन अर्थों में वह दरअसल है भी, हमें अब यह भी गौर करना होगा कि इसमें जुड़ने का कारण इतना सकारात्मक है कि वह अपने आप में कीमती है। हम इसलिए नहीं खेलते हैं कि उससे कोई और उद्देश्य हासिल हो सकेगा या



हम किसी दायित्व का निर्वाह कर सकेंगे, बल्कि स्वयं उस गतिविधि के लिए ही खेलते हैं। हम 'मजे' के लिए खेलते हैं। यह बात एक साथ ही उसकी अगंभीरता तथा उसमें निहित संतुष्टि दोनों को ही सुझाती है। खेल की विशेषता पर वे लोग बल देते हैं जो खेल पर अपने-आपमें विचार करते हैं और उसके मानदण्डों में स्वतःस्फूर्तता, तल्लीन रुचि या भावनात्मक संतुष्टि को शामिल करते हैं। पर ये विशेषताएं अपने-आपमें पर्याप्त नहीं है और केवल तब ही अधिक सटीक लगती हैं जब हम खेल को सामाजिक मानचित्र पर अगंभीर तथा स्व-सीमित रूप में स्थापित करते हैं। क्योंकि यह बात भी स्वतः आती है कि खेल की उत्प्रेरणा उस गतिविधि में अंतर्निहित ही हो सकती है। हम आवश्यक रूप से उस गतिविधि में जो है उसी के लिए खेलते हैं, चाहे वह फिसलपट्टी से फिसलने की संतुष्टि हो या शतरंज की तल्लीनता हो, किसी को पकड़ने दौड़ने की उत्तेजना हो, पार्टी का लुफ हो या शेर का शिकार बनने का भय हो, नकल (मिमिकरि) से मनोरंजन हो, स्पर्धा का संघर्ष और विजय की संभावना हो या शब्द खेलों में बौद्धिक वर्जिश हो।

तो फिर खेल एक ऐसी अगंभीर तथा स्व-सीमित गतिविधि है, जिसे हम उसमें निहित संतुष्टि को पाने के लिए ही करते हैं। इस विश्लेषण की पुष्टि, मेरे विचार से तब होती है, जब हम पूर्व में चिह्नित बालकों की तीनों प्रकार की गतिविधियों पर चिंतन करते हैं। ये हैं, भूमिका खेल, वस्तु के साथ खेल तथा शारीरिक खेल। या तब भी जब हम वयस्कों के विभिन्न खेलों पर विचार करते हैं। वे सभी इस अर्थ में अगंभीर होते हैं कि न तो उनका सूझबूझ से निर्धारित उद्देश्य होता है, ना ही वे किसी दायित्व का निर्वाह करते हैं। अतः वे स्पष्ट प्रारंभ व अंत होने के कारण स्व-सीमित होने के साथ ही स्वयं में निहित उद्देश्य व संरचना के कारण भी स्व-सीमित होते हैं। अगंभीरता के एक अन्य निहितार्थ के रूप में इन गतिविधियों को उस अंतर्निहित संतुष्टि के लिए किया जाता है जो वे देती हैं। बेशक खेल के इस वर्णन को कई तरीकों से पेचीदा बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, उस सब पर विचार किया जा सकता है और पूछा जा सकता है कि जिनकी खेल में पेशेवर (प्रोफेशनल) रुचि हो या जो अपना स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए खेलते हों या जो व्यावसायिक संपर्क बनाने के लिए खेलते हैं, उनके विषय में क्या कहा जाए। परन्तु ऐसे मामलों का पीछा करना केवल उबाऊ होगा। जब व्यक्ति किसी गन्तव्य

तक पहुंचना चाहता है, तब वह हरेक गली-कूचे की छानबीन के वास्ते नहीं रुकता।

खेल क्या है के सवाल को छोड़ने से पहले, गतिविधियों की उस महत्वपूर्ण श्रेणी के विषय में कुछ कहना जरूरी है जो यों देखने पर सुझाए गए मानदण्डों को तो पूरा करती लगती हैं, पर जिन्हें हमें खेल कहना नहीं चाहिए। ये विभिन्न कलाओं और विज्ञानों से संबंधित गतिविधियां हैं जो उनके उन स्पष्ट उपयोगों से भिन्न होते हैं, जो जीने के गंभीर मामले से जुड़े हों। संभव है कि वे यों देखने पर अगंभीर लगती हों पर करीब से देखने पर पता चलता है कि दरअसल ऐसा है नहीं। हालांकि ये अक्सर उन लोगों को संतुष्टि भी देती हैं जो इन्हें करते हैं, पर अपने में सार्थक गतिविधियों को करने का कारण किसी ऐसी चीज की स्थापना या निर्माण होता है जिसका वस्तुनिष्ठ मूल्य हो। फिर चाहे यह कोई गणितीय समाधान हो, वैज्ञानिक नियम हो या कोई सुन्दर वस्तु हो। इनका मूल्यांकन मूलतः उससे प्राप्त होने वाली संतुष्टि से नहीं किया जाता, बल्कि सत्य तथा योग्यता के व्यक्तिगत मानकों से होता है। हालांकि ये गतिविधियां समझदारी या कर्तव्यवश नहीं की जाती, अतः इस अर्थ में गंभीर नहीं होतीं, फिर भी उनका गंभीरता से अंतरंग रिश्ता इस अर्थ में होता है कि वे हमारी स्व की कल्पना के आयामों की और हमारी उस परिस्थिति की छानबीन करती हैं जिसकी पृष्ठभूमि में गंभीरता के हमारे वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किए जाते हैं।<sup>15</sup> उनका सरोकार विभिन्न प्रकारों की 'वास्तविकता' से होता है जिनको हम उस वक्त मानकर चलते हैं जब हम इन फैसलों की वैधता का दावा करते हैं।<sup>16</sup> अतः इन गतिविधियों का खेल से साम्य व्यक्त नहीं होता।<sup>17</sup>

## 6. खेल के 'सिद्धांत'

अब हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि इस सबमें मनोवैज्ञानिक सिद्धांतीकरण तथा अवलोकन कहां माफिक (फिट) बैठता है, खासकर बच्चों के खेल के संबंध में। अलग-अलग समय इस प्रकार के सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं कि खेल 'जीवन' की तैयारी का एक तरीका है (गंभीर) या यह परेशानियों का समाधान करने और भावनाओं को मुक्त करने का उपाय है। इधर स्वप्न विश्लेषकों ने खेल में भी कभी-कभार एक प्रकार के अनुभव की दूसरे पर अजीबो-गरीब टिप्पणी देखी है। खेल से किस प्रकार सीखा जाता है का अवलोकन करने वालों ने इसके द्वारा भाषा में प्रगति, दूसरों के साथ सहकार, अपनी

मजबूतियों तथा क्षमताओं के प्रति जागरूक बनना, वस्तुओं के भौतिक गुणों से परिचित होना आदि-इत्यादि देखा है। तो ये तमाम में से कुछ तरीके हैं जिनसे मनोविज्ञान खेल पर विचार करता है।

इस प्रकार की टिप्पणियां हमें खेल की अवधारणा के बारे में कुछ भी नहीं बतातीं। सच तो यह है कि अर्थ के अवधारणात्मक अर्थ में खेल के 'अर्थ' का ज्ञान इन जांचों का नतीजा नहीं बल्कि उनकी पूर्व मान्यता होती है। खेल की अवधारणा का अवलोकन, उसका सिद्धांतीकरण, उसका प्रतिवेदन इनमें नहीं होता, बल्कि उन विशिष्ट चीजों का होता है जो बच्चे खेलते समय करते हैं। अगर ऐसा न होता तो भाषा इस्तेमाल करने वालों में से अधिकतर, जो खेल के सिद्धांतों के विषय में कुछ भी नहीं जानते, शब्दों का प्रयोग करते समय निरर्थक ध्वनियां ही निकालते। और तो और स्वयं सिद्धांतकार के पास गतिविधियों की एक श्रेणी संबंधी प्रारंभिक सूचनाएं ही कैसे होतीं, जिन पर वह अपना सिद्धांत गढ़ता। क्योंकि हमारी जांच का सरोकार अब तक खेल की अवधारणा से रहा है, उसे हम मनोवैज्ञानिकों की उन विशेष चीजों की, की खोज से डगमगा नहीं सकते, जो बच्चे खेलते समय करते हैं।

इन अवलोकनों तथा सिद्धांतीकरणों के संबंध में दूसरा बिन्दु यह है कि वे हमें बच्चे क्या करते हैं के बारे में कुछ नहीं बताते। यहां 'करने' से तात्पर्य इस अर्थ में है कि व्यक्ति जो कर रहा है उसे जानता-समझता है। उदाहरण के लिए, अगर हम गुडिया थामे किसी बच्ची से पूछें कि वह क्या 'कर' रही है, तो उसका उचित उत्तर हो सकता है कि वह उसे 'खाना खिला रही है', 'उसके कपड़े बदल रही है', 'उसे बता रही है कि उसने शैतानी की है' आदि। परन्तु अगर उसका उत्तर होता कि वह 'मातृत्व की तैयारी कर रही है', 'मां की भूमिका सीख रही है' या 'उग्रता को उपचारात्मक विधि से निकालने को कार्यान्वित कर रही है', तो उसका भाषा प्रयोग न केवल हमें झकझोर देता बल्कि हम इस निर्णय पर पहुंचने पर बाध्य होते कि यह तो खेल है ही नहीं। इसलिए, क्योंकि जीवन की सायास तैयारी तथा समझ कर उपचार (थेरेपी) चाहना दोनों ही गंभीर की श्रेणी में आते हैं। अतः सिद्धांतकार न केवल हमें 'खेल' से क्या तात्पर्य है यह नहीं बताता, बल्कि वह हमें यह भी नहीं बताता कि बच्चे खेलते समय क्या करने के विषय में सजग होते हैं।

सिखाने की अवधारणा 'निर्देशित करने' की अवधारणा से कहीं अधिक व्यापक है और इसका निहितार्थ है वह प्रदान करना या बताना कि सीखा क्या जाना है। 'सिखाना' यह खुला छोड़ता है कि सीखना कैसे संभव होगा। सिखाने की संभव विधियों पर एक ही सीमा लगाई जाती है जो किसी वस्तु विशेष से क्या सीखा जा सकता है से निकलती है।

वह जो बताता है वह है बढ़ने में, वृद्धि में खेल की क्या भूमिका या उपयोग है। एक ओर 'खेल' के इस तात्पर्य तथा बच्चे खेलते समय खुद को क्या करता देखते हैं में तथा दूसरी ओर कोई बुद्धिमान अवलोकनकर्ता उनके खेल की क्या उपयोगिता देखता है में, जो अंतर है वह बेहद महत्वपूर्ण है। इसे समझने पर हम उन भ्रमों में से कुछ को सुलझा सकते हैं जिनका उल्लेख प्रारंभ में किया गया था। अतः अवलोकनकर्ता खेल की भूमिका/उपयोगिता का जो वर्णन करता है उस बारे में कुछ और चर्चा की जानी चाहिए।

जब हम किसी भी चीज के 'कार्य/उपयोगिता' पर सोचते हैं, तो दरअसल हम यह विचार कर रहे होते हैं कि उससे क्या प्रभाव पड़ता है या क्या होता। परन्तु इसे भी कम से कम तीन तरीकों से देखा जा सकता है। हम यह विचार कर सकते हैं कि खेल की क्या प्रभाव होना चाहिए या लोग क्या सोचते हैं कि क्या होता है या दरअसल क्या होता है, पर ये तीनों हमेशा एक समान नहीं होते। उदाहरण के लिए, शायद किसी पादरी का कार्य अपने इलाके में धर्मजनों की देखभाल करना होना चाहिए; जबकि वह सोचता है कि उसका काम खुद को आरामदायक जीवन उपलब्ध करवाना है और कोई मार्क्सवादी अवलोकनकर्ता यह देख सकता है कि वह सामाजिक असंतोष को एकाग्रता को सही वस्तुओं से हटा रहा है। जहां तक खेल का प्रश्न है, मनोवैज्ञानिक उपरोक्त उदाहरण में मार्क्सवादी की

तरह है। वह खेल को स्वयं बच्चे के साथ जोड़कर नहीं देखता, जैसा सामान्य वयस्क करते हैं, बल्कि वह खेल में तमाम तरह के अब तक अकल्पित तथा अस्पष्ट कार्यात्मक अर्थ देखता है। जैसे खेल की उपचारात्मक भूमिका या उससे सीखने का कार्य। जिस बात पर खास ध्यान देना चाहिए वह यह है कि इस वृत्ति का आंशिक असर खेल की अंतर्निहित अगंभीरता को मिटाना है। जैसा सुझाया गया था, खेल वह गतिविधि है जिसे हम तब करते हैं जब हमारा ध्यान गंभीर से आजाद होता है। यह बात तब भी लागू होनी चाहिए ताकि सिद्धांतकारों के पास कोई लक्षणीय गतिविधि बची रहे जिस पर वे सिद्धांतिकरण कर सकें। परन्तु सिद्धांतकार खेल के जो कार्यात्मक अर्थ/महत्त्व उजागर करते हैं वे खेल को एक भिन्न प्रकाश में ले आते हैं। क्योंकि सिद्धांतकार के दृष्टिकोण से खेल 'गंभीर मामला' है। चाहे हम खेल को उपचार की तरह देखें या सीखने की दृष्टि से या फ़ोबेल के प्रस्फुटन के तत्वमीमांसीय नाटक के प्रथम अंक के रूप में, अवलोकनकर्ता द्वारा उसे गंभीर ही माना जाएगा।

गंभीरता के जिस नए आयाम को सिद्धांतकार उजागर करते हैं वही ऐसी विपरीतोक्तियां पैदा करता है, जैसे 'खेल गंभीर मामला है' या 'खेल बालकों का कार्य है।' ऐसा नतीजा उस स्थिति में कतई असामान्य नहीं है जब कोई अवधारणा उसके उपयोग से प्रासंगिक मनोवैज्ञानिक खोजों से पूर्व ही बन गई हो। उदाहरण के लिए, 'जिम्मेदारी' तथा 'दण्ड' भी ऐसी अवधारणाएं हैं जिनका उपयोग इसी प्रकार से अनिश्चित हो गया है। हालांकि सिद्धांतकार हमें 'खेल' का मतलब क्या है के बारे में कुछ भी नहीं बताते या बच्चे खेलते समय जो कर रहे हैं उसके प्रति उनकी सजगता के बारे में भी खामोश रहते हैं, जो वे स्पष्ट करते हैं वह है खेल के अब तक अकल्पित कार्य। ऐसे कार्य जो खेल को गंभीरता से इस प्रकार जोड़ देते हैं कि वयस्क अवलोकनकर्ता पर उसको लेकर एक दायित्व बोध आन पड़ता है। ऐसे में खेल के लिए उचित व्यवस्था करने की उपेक्षा करने के नतीजे को मौजूद पूर्वमान्यताओं के हिसाब से नुकसानदेह ही माना जाएगा। बेशक यहां यह मानकर चलना होगा कि संबंधित सिद्धांत तथा अवलोकन सत्य हैं। यह प्रश्न ऐसा है कि जिस पर निर्णय लेने में दार्शनिक शायद अक्षम हों। पर इसे पारंपरिक मानते हुए मैं यह विचार करने की ओर मुड़ता हूँ कि इस कार्यात्मक अर्थ/महत्त्व के प्रकाश में खेल एक संभाव्य शैक्षणिक प्रक्रिया है।

खेल गतिविधियों के दौरान अचेतन रूप से विशेष शैक्षणिक मूल्य वाली चीजों को यों ही सीखा जा सकता है। स्कूलों में जो सीखा जाता है उसका अधिकतर इससे कहीं अधिक सायास होता है; जिसके लिए उदाहरण के बतौर अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है।

## 7. खेल व शिक्षा

अगर कोई व्यक्ति किसी बच्चे को शिशुशाला (नर्सरी) भेजने के बारे में सोचते समय केवल यह जानता है कि बच्चे वहां खेलते हैं, तो शिशुशाला की गतिविधियों को आसानी से अगंभीर की श्रेणी में रखा जा सकता है। तो फिर सोचा जा सकता है कि बच्चों के लिए खेलने की व्यवस्था करने के लिए इतनी जहमत और व्यय करने की जरूरत ही भला क्या है जबकि वे कहीं और, जैसे बगीचे में, सड़क पर या खेल मैदान में भी यही काम उतनी ही अच्छी तरह कर सकते हैं ? इस प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं। जैसे किसी सुसंचालित शिशुशाला में बच्चे, सुरक्षित रहते हैं, उनके स्वास्थ्य की देखभाल होती है, वहां व्यक्तिगत परेशानियों को सुलझाने के तमाम अवसर मिलते हैं और उनका एक प्रकार का संतुलित भावनात्मक विकास होता है, कि बच्चे एक-दूसरे से खुलकर बातचीत करना, साझा करना, सहकार करना, दूसरों की मदद करना आदि सीखते हैं। इस सबके भी ऊपर यह कहा जा सकता है कि जो बच्चा शिशुशाला में जाता है उसके आत्म-विश्वासी व खुशमिजाज बनने की संभावना अधिक रहती है। हालांकि उपरोक्त प्रत्येक बात बेहद महत्त्वपूर्ण है और मैं जो कुछ भी कहूँ वह उसके महत्त्व को कम नहीं कर सकती, परन्तु यह शिक्षा नहीं है। 'शिक्षा' की अवधारणा का निहितार्थ, बेशक किसी प्रकार का सुधार होता है, जैसा कि प्रोफेसर पीटर्स ने दर्शाया है,<sup>19</sup> पर यह किसी भी प्रकार का सुधार नहीं होता। इसमें शंका नहीं कि बच्चों को सुरक्षित विकसित होते, स्वस्थ, बिना भावनात्मक कठिनाइयों के और दूसरे बच्चों के साथ सानंद अंतःक्रिया करते देखना किसी के लिए भी प्रशंसनीय कार्य है। और बेशक, इस

प्रकार की व्यवस्था में कई प्रकार के सुधार आते हैं, फिर भी यहां कुछ भी विशिष्ट रूप से शैक्षणिक नहीं है। यहां ऐसा कुछ भी नहीं है जो बाद में संज्ञानात्मक दृष्टि प्राप्त करने की ओर या विभेदक समझ निर्मित करने की ओर लक्षित हो, जो किसी प्रक्रिया को शैक्षिक प्रक्रिया के रूप में चिह्नित करने का मानदण्ड होता है।<sup>20</sup> और वास्तव में जहां तक कई शिशुशालाओं का प्रश्न है, जो स्वास्थ्य अधिकारियों या निजी लोगों द्वारा चलाई जाती हैं, वहां ऐसा कुछ करने-करवाने का दावा भी नहीं किया जाता जिसका कोई विशिष्ट शैक्षणिक मूल्य हो। सिवा शायद इसके कि बाद में शिक्षा प्रारंभ करने की अच्छी नींव डाली जा रही है।

इसके बावजूद कुछ शिशुशालाओं में खेल को कुछ इस तरह देखा जाता है कि उसे शैक्षणिक प्रक्रिया सोच लेने का दावा किया जा सके। वहां के कार्यकर्ता स्वयं को शिक्षक मानते हैं और संस्था अपने आप को स्कूल। सभी शिशुशालाएं न तो शालाएं हैं न ही ऐसा दावा करती हैं, परन्तु कुछ ऐसा करती हैं। इस पर एक आपत्ति जो तत्काल की जा सकती है, वह यह है कि ऐसी संस्थाओं में तयशुदा निर्देशन (पढ़ाई) या तो स्वाल्प या कतई नहीं दिया जाता, तो फिर इसके कार्यकर्ताओं को शिक्षक कैसे माना जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि सिखाने की अवधारणा 'निर्देशित करने' की अवधारणा से कहीं अधिक व्यापक है और इसका निहितार्थ है वह प्रदान करना या बताना कि सीखा क्या जाना है। 'सिखाना' यह खुला छोड़ता है कि सीखना कैसे संभव होगा। सिखाने की संभव विधियों पर एक ही सीमा लगाई जाती है जो किसी वस्तु विशेष से क्या सीखा जा सकता है से निकलती है। अतः अगर शिशुशाला के कार्यकर्ता यह दावा करना चाहें कि वे 'शिक्षक-शिक्षिकाएं' हैं, तो यह आवश्यक नहीं कि कोई तयशुदा निर्देश किसी भी चीज के बारे में दें। शिक्षण के कई स्वरूप उनके लिए खुले हैं। जैसे, सावधानी से चुनी गई गतिविधियों को व्यवस्थित करना, मार्गदर्शन (लीडिंग) देने वाले प्रश्न पूछना, जो किया जा रहा है उस पर टिप्पणी करना और उनके बारे में सुझाव देना, आदि-इत्यादि।<sup>21</sup> अतः यह दर्शाना काफी आसान है कि ऐसी शालाओं के कार्यकर्ता 'पढ़ाते-सिखाते' हैं। परन्तु एक बार फिर यह कहना होगा कि हर प्रकार का 'सिखाना' शैक्षणिक नहीं होता। सो अगर हम यह दर्शाएं कि शिशुशाला के शिक्षक दरअसल शिक्षक हैं, इसका निहितार्थ यह नहीं होता कि वे शिक्षित करते हैं या यह कि खेल शैक्षणिक प्रक्रिया है।

उदाहरण के लिए, किसी बच्चे को अपने जूते के फीते बांधना सिखाना उपयोगी तो है, पर एक शैक्षिक उपलब्धि के रूप में उसे नहीं लिया जा सकता।

क्योंकि शिशुशाला में या छोटे बालकों के स्कूलों में भी, जो खेल गतिविधियां संचालित की जाती हैं, उन्हें महज उपयोगी, उपचारात्मक या प्रसन्नता पैदा करने वाली न मानकर खासतौर से शैक्षणिक मानने के लिए, यह दर्शाना होगा कि वे एक प्रकार की विभेदात्मक (डिफरेंशिएटेड) समझ विकसित करने की निरंतरता से संबद्ध हैं। इस प्रकार की समझ को अपने निजी अनुभवों को 'अंतर्बोध का दृष्टिकोण' देना कहा जाता है। यह महज संयोग नहीं है कि ठीक इसी प्रकार का विकास करने की चेष्टा शिशुशाला के बाद अधिक औपचारिक शिक्षण के दौरान की जाती है। कह सकते हैं कि अगर शिशुशाला की गतिविधियों को हमें शैक्षणिक मानना हो, तो उसमें बाद के शिक्षण के साथ निरंतरता में होना होगा। उन्हें केवल स्वास्थ्य तथा मनोरंजन की दृष्टि से व्यवस्थित करना पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार मूल्यों के एक दिशादर्शक ढांचे से, जो कालान्तर में आने वाले शिक्षण को ध्यान में रखकर गढ़ा गया हो, निर्देशित होना होगा। साथ ही हमें इस तथ्य की सैद्धांतिक समझ से मार्गदर्शन लेना होगा कि खेल के सिखाने वाले कार्य को कैसे व्यवस्थित किया जाए। केवल तब ही जो वयस्क इन गतिविधियों को अपने निरीक्षण में करवाते हैं शिक्षक कहला सकते हैं और वे एक शैक्षिक परिस्थिति भी निर्मित करते हैं। ऐसे खेल का कार्य 'सीखना' होता है और इसका विकास दरअसल खेल से होता है या नहीं यह उस स्थिति की तुलना में कहीं अधिक अनिश्चित है जो अधिक परिचित औपचारिक शिक्षण के निर्देशात्मक परिवेश में हो पाता है। परन्तु अचयनित तथा अनिरीक्षित खेल या खेल जो खेल की शैक्षिक भूमिका का सैद्धांतिक ज्ञान न रखने वाले वयस्कों के निरीक्षण में किया जाए, की तुलना में यह कम अनिश्चित होगा। मैंने केवल यह वर्णन किया है कि शिशुशाला की गतिविधियों को अगर शैक्षिक मानना है तो स्थितियां कैसी होनी होंगी। अब कोई संस्था विशेष इस वर्णन की शर्तें पूरी करती है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर केवल तब ही दिया जा सकता है जब उस संस्था की हमारे पास पूरी जानकारी हो।

निष्कर्ष में यह कहना आवश्यक है कि इस बात में शंका है कि खेल गतिविधियों के दौरान अचेतन रूप से विशेष शैक्षणिक मूल्य वाली चीजों को यों ही सीखा जा सकता है। स्कूलों में जो

सीखा जाता है उसका अधिकतर इससे कहीं अधिक सायास होता है; जिसके लिए उदाहरण के बतौर अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। इससे तात्पर्य यह नहीं है कि वे सारी गतिविधियां जिन्हें सही मायने में खेल कहा जा सकता है, उन्हें स्कूल में, लगभग छह साल की आयु में बंद कर देना चाहिए। बल्कि तात्पर्य यह है कि तब क्रमशः ऐसी गतिविधियां अधिक होनी चाहिए जिन्हें स्वयं बच्चे भी गंभीर मानते हैं, अतः खेल नहीं मानते। ऐसी गतिविधियां भी रोचक व आनंददायक हो सकती हैं, पर उन्हें 'खेल' कहना बच्चों को इस प्रकार की गंभीरता से नहीं लेना होगा जिस गंभीरता से वे स्वयं को लेने लगते हैं। साथ ही इससे अनावश्यक रूप से उन वयस्कों की नाराजगी भी उन प्रबुद्ध विधियों के प्रति आमंत्रित होगी जो शिक्षा के गंभीर मामले की शुरुआत करती हैं। ♦

### भाषान्तर : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

#### टिप्पणियां

1. अन्य परिवर्तनीय घटकों की चर्चा हार्डी, सी.डी, की दृथ एण्ड फैलसी इन एज्युकेशन थ्योरी (1942), अध्याय 1 में की गई है।
2. पॉपर, के.आर., द ओपन सोसायटी एण्ड इट्स एनिमीज (1945) खण्ड 2, अध्याय II
3. बेस्ट, ई., 'कॉमन कन्फ्यूजन्स इन एज्युकेशनल थ्योरी, जो आर्चेम्बॉल्ट, आर.डी. संपादित फिलॉसोफिकल एनालिसिस एण्ड एज्युकेशन (1965) में छपा है।
4. कैल्डवेल कुक, एच., द प्ले वे, पृ. 3
5. प्याजे, जे., द मॉरल जजमेंट ऑव द चाइल्ड (अंग्रेजी संस्करण, 1932)
6. कैल्डवेल कुक, एच. पूर्वोक्त कृति. पृ. 9
7. प्याजे, जे., प्ले, ड्रीम्स एण्ड इमिटेशन इन चाइल्डहुड (अंग्रेजी अनुवाद, 1951)
8. विट्गैनस्टाइन, एल., फिलॉसोफिकल इनवेस्टिगेशन्स (1953), भाग 6
9. ऑस्टिन, जे.एल., 'प्रिंटेंडिंग' जो प्रोसीडिंग्स ऑव द एरिस्टोटेलियन सोसायटी, (1656-7) में प्रकाशित है।
10. सी. एफ. केनी, ए., 'एक्शन, इमोशन एण्ड विल' (1963), पृ. 42-3, बालकों में भ्रम या प्रेम जैसी भावनाओं को आरोपित करने के संभावित अनौचित्य पर।
11. ओपी, आई. तथा ओपी., पी., लोर एण्ड लैंग्वज ऑफ स्कूल चिल्ड्रेन (1957)
12. डेकार्ट, मेडिटेशन्स, अध्याय 1
13. टॉल्मिन, एस.ई., द प्लेस ऑव रीजन इन एथिक्स (1950) अध्याय 6, भाग 6
14. हुईजिंगा, जे., होमो ल्यूडेन्स (अंग्रेजी संस्करण 1949)
15. पीटर्स, आर. एस., एथिक्स एण्ड एज्युकेशन (1966), अध्याय 5
16. 'वास्तविकता' के इस उपयोग पर देखें टॉल्मिन, एस. ई. की पूर्वोक्त कृति, अध्याय 8
17. सी.एफ. ओकशॉट, एम., 'द वॉयस ऑव पोएर्टी इन द कॉन्वर्सेशन ऑव मैनकाइन्ड', जो रैशनैलिज्म इन पॉलिटिक्स, (1962) पृ. 197-202 में प्रकाशित है।
18. फ्रोबेल, एफ., द एज्युकेशन ऑव मैन (1826)
19. पीटर्स, आर. एस., पूर्वोक्त कृति, अध्याय 1
20. पीटर्स, आर.एस. तत्रेव
21. जिन तरीकों से शिक्षक इस प्रकार का अनौपचारिक मार्गदर्शन कर सकता है के लिए देखें, गार्डनर डी.ई.एम. तथा कैस, जे.ई. द रोल ऑव टीचर इन इन्फैंट एण्ड नर्सरी स्कूल (1965)

#### लेखक परिचय

'द फिलॉसॉफी ऑफ प्राइमरी एज्युकेशन', 'एज्युकेशन एण्ड रीजन', 'एज्युकेशन एण्ड डवलपमेंट ऑफ रीजन', 'क्रिटीक ऑफ करंट एज्युकेशनल एम्स', 'प्रोब्लम्स ऑफ प्राइमरी एज्युकेशन', 'रीजन, थियरी एण्ड प्रैक्टिस इन एज्युकेशन'; आदि पुस्तकों के लेखक एवं इंग्लैण्ड के जाने-माने शिक्षा दार्शनिक डियरडेन इंस्टीट्यूट ऑफ एज्युकेशन, लंदन में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत रहे हैं।